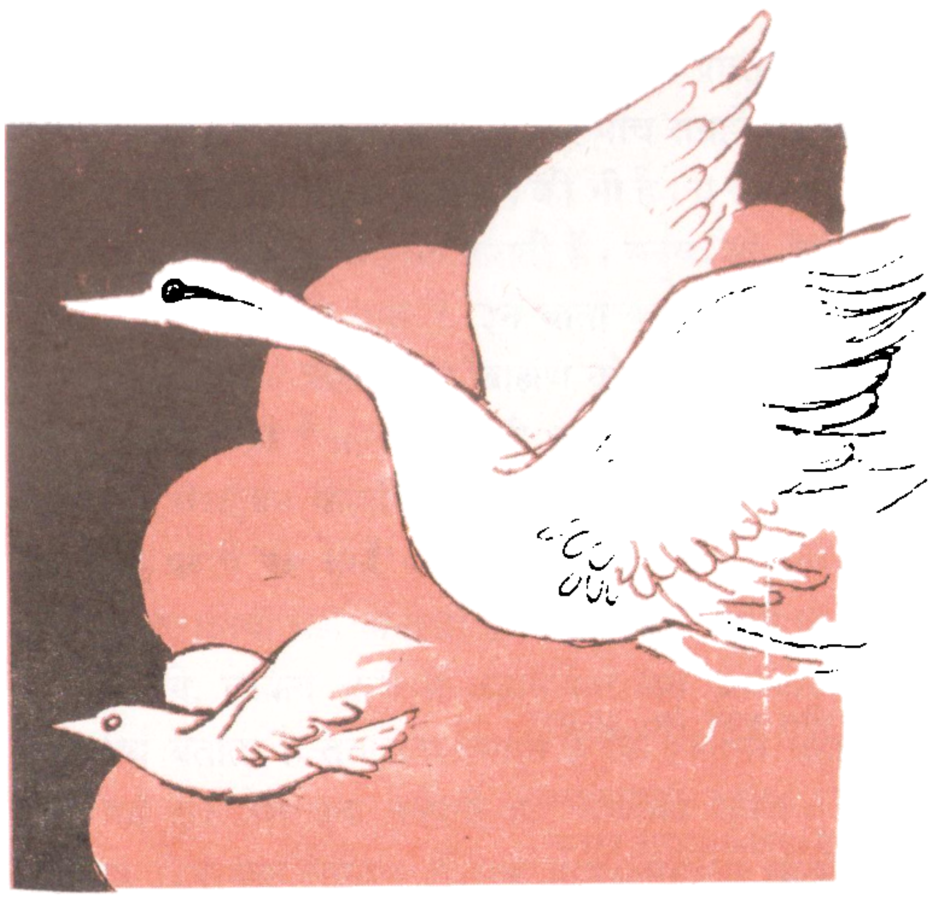
घमंड का फल

विष्णु प्रभाकर



घमण्ड का फल

विष्णु प्रभाकर



राजपाल

दो शब्द

प्यारे बच्चो, ये कहानियाँ छोटे बच्चों के लिए नहीं है। बारह वर्ष और उससे अधिक आयु के बच्चों के लिए यानी किशोरों के लिए हैं। यह सभी कहानियाँ हमने प्राचीन साहित्य, धार्मिक और लोक साहित्य में से चुनकर पाँच संग्रहों में संकलित की हैं। एक कहानी ऐतिहासिक युग की भी है। ये सब कहानियाँ हमें हमारी संस्कृति से परिचित कराती हैं। मनुष्य को कैसे रहना चाहिए। उसके कर्तव्य क्या हैं, इन बातों का हमें अपने जीवन को जीने की राह दिखाता है। 'ब्राह्मण कौन है, हमें क्रोध नहीं करना चाहिए, और ज्ञान का सही अर्थ क्या है।' ऐसे सभी प्रश्नों के उत्तर इन कहानियों के द्वारा समझाए गए हैं। जब तुम इन्हें पढ़ोगे तो तुम्हें पता लगेगा।

कई कहानियाँ बड़ी अनोखी हैं। पढ़ना शुरू करोगे तो समझ नहीं पाओगे, लेकिन अन्त में कहानीकार जब उन वाक्यों का सही अर्थ बताता है तब पता लगता है कि कितनी सही बात कही गई है। जैसे एक कहानी है, 'धर्म का रहस्य।'

एक दिन एक परिवार में एक कम आयु के मुनि भिक्षा मांगने के लिए गए। उन्हें देखकर घर की बहू ने कहा "मुनिवर अभी तो सवेरा है।"

से ही जाना जाएगा। प्राचीन काल में भी ऐसी ही गद्दियाँ थीं या आश्रम थे। जैसे अगस्त मुनि, वशिष्ठ जी और ऋषि विश्वामित्र आदि। अगस्त मुनि का आश्रम हिमालय में ही माना जाता है, विन्ध्यांचल पर्वत पर भी, तमिल प्रदेश में भी। और यहाँ तक कि भारत के बाहर इण्डोनेशिया में भी। अब एक ही व्यक्ति प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक कैसे रह सकता है। वशिष्ठ जी और विश्वामित्रजी राजा हरिशचंद्र के समय में भी हुए हैं और राम के समय में भी। तो यह शंकराचार्य के समान गद्दियाँ थीं, जो इन पर बैठता वह इसी नाम से पुकारा जाता था।

यह सब बातें तो तुम बड़े होकर ठीक-ठीक समझोगे, अभी तो तुम इन्हें पढ़ो और इनका अर्थ समझो। समय बदल गया है। कहानियाँ कहने का ढंग भी बदल गया है। जीवन के मूल्य भी बदल गए हैं, पर अपने प्राचीन साहित्य से परिचित होना भी आवश्यक है।

तभी तो पता लगता है कि समय के साथ-साथ हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-विचार कैसे बदल जाते हैं। यह बदलना होता तो आगे बढ़ने के लिए ही है। इसी बात को तुम्हें समझना है।

विष्णु प्रभाकर

23.1.2004

सूची



घमंड का फल

प्राचीन काल में दो मुनि भरद्वाज और रैभ्य वन में पास-पास आश्रम बनाकर रहते थे। दोनों परम मित्र थे। रैभ्य के दो पुत्र परावसु और अर्वावसु बड़े विद्वान थे। उनका यश चारों ओर फैला हुआ था, लेकिन भरद्वाज का पुत्र यवक्रीत बिलकुल मूर्ख था। वह देखा करता था कि ब्राह्मण लोग रैभ्य मुनि का जितना आदर करते हैं उतना मेरे पिता का नहीं करते। यह देखकर उसके मन में बड़ी जलन पैदा होती थी और ईर्ष्या के कारण उसका शरीर जलने लगता था।

आखिर अपनी अविद्या को दूर करने के लिए उसने देवराज इन्द्र की तपस्या आरम्भ की। अपने शरीर को आग में खूब तपाया और खूब अपने को यातना दी। धीरे-धीरे उसकी तपस्या बहुत कठोर हो उठी। देवराज बहुत दुःखी हुए और उन्हें यवक्रीत पर दया आई। धरती पर आकर उन्होंने यवक्रीत से पूछा, ''तुम इतना कठोर तप क्यों कर रहे हो ?''

यवक्रीत ने कहा, ''मैं चारों वेदों का ज्ञान पाना चाहता हूँ–ऐसा ज्ञान जो आज तक किसी को न मिला हो। गुरु के यहाँ रह कर सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। एक-एक छन्द को बार-बार रटना पड़ता है। मैं चाहता हूँ कि बिना गुरु की

कृपा के ही पंडित बन जाऊँ।''

इन्द्र हँसकर बोले, ''ब्राह्मण कुमार, तुम उल्टे रास्ते पर जा रहे हो। अच्छा यही है कि किसी योग्य आचार्य के पास जाकर परिश्रम से वेदों का अध्ययन करो। बिना पढ़े ज्ञान नहीं पाया जा सकता।''

इन्द्र चले गए, लेकिन यवक्रीत ने उनका कहना नहीं माना। तपस्या और कठोर कर दी। देवताओं को और कष्ट देने लगा। देवराज फिर धरती पर आए। बोले, ''मुनि कुमार, शरीर को क्यों व्यर्थ कष्ट दे रहे हो? हठ करना ठीक नहीं है। तुम्हारे पिता वेदों के पंडित हैं, उनसे ज्ञान प्राप्त करो। वेद सीख कर पंडित बनो।''

लेकिन यवक्रीत अब भी नहीं माना। बोला, ''यदि आप मेरी इच्छा पूरी नहीं करेंगे तो मैं अपने शरीर का एक-एक अंग काट कर आग में डाल दूँगा।''

इन्द्र ने फिर भी उसकी इच्छा पूरी नहीं की और यवक्रीत की तपस्या चलती रही। एक दिन जब वह गंगा-स्नान के लिए जा रहा था तो उसने देखा कि गंगा के किनारे बैठा हुआ एक बूढ़ा मुट्ठी भर-भरकर बालू बहती धारा में फेंक रहा है। उसे बड़ा अचरज हुआ। पूछा, ''बूढ़े बाबा, यह क्या कर रहे हो ?''

बूढ़े बाबा ने उत्तर दिया, ''तुम नहीं जानते। उस पार जाने के लिए लोगों को बड़ा कष्ट होता है। सोचता हूँ कि रेत डालकर उस पार तक एक बाँध बना दूँ, जिससे लोग आसानी से आ-जा सकें।''

यह सुनकर यवक्रीत बड़े ज़ोर से हँसा। बोला, ''बूढ़े बाबा, कैसी बातें करते हो। भला कहीं बहती धारा में रेत डालकर बाँध बाँधा जा सकता है ? तुम्हारा यह परिश्रम बेकार ही नहीं,



मूर्खतापूर्ण भी है। कुछ और काम करो।''

बूढ़े ने उत्तर दिया, ''भला मेरा परिश्रम बेकार क्यों जाएगा ? आप अपने को भी तो देखिए। बिना गुरु से शिक्षा पाये आप वेदों का ज्ञान पाने के लिए तप कर रहे हैं। यदि आप इस तरह वेदों का ज्ञान पा सकते हैं, तो मैं बाँध क्यों नहीं बाँध सकता ?''

यवक्रीत के सामने सहसा सब-कुछ स्पष्ट हो गया–जैसे ज्ञान के कपाट खुल गए हों। उसने बूढ़े को पहचान लिया। विनम्र स्वर में बोला ''देवराज ! अगर मेरी तपस्या व्यर्थ है फिर मुझे एक वर दीजिए !''

इन्द्र बोले, ''माँगो, क्या माँगते हो !''

यवक्रीत ने कहा, ''आपकी कृपा से मैं वेदों का परम पंडित बनना चाहता हूँ।''

इन्द्र बोले, ''तथास्तु! अभी से जाकर वेदों का अध्ययन शुरू

कर दो। एक दिन तुम बहुत बड़े विद्वान बनोगे।''

वर पाकर यवक्रीत आश्रम लौट आया और मन लगा कर वेदों का अध्ययन करने लगा। शीघ्र ही वह बहुत बड़ा विद्वान हो गया, लेकिन साथ ही उसे घमण्ड भी कम नहीं हुआ। उसके पिता भरद्वाज ने उसे बहुत समझाया, ''बेटा, घमण्ड मत कर। घमण्ड के कारण शीघ्र ही विनाश हो जाता है।''

लेकिन यवक्रीत की समझ में कुछ नहीं आया। एक दिन उसने परावसु की सुन्दर पत्नी को देखा। उसके मन में कुवासना जाग उठी और धोखा देकर उसने उस अबला के साथ दुराचार किया।

आश्रम में लौटने पर रैभ्य मुनि को यह समाचार मिला। वह क्रुद्ध हो उठे और अपने तप के बल से उन्होंने तुरन्त दो पिशाचों को पैदा किया। एक परम सुन्दरी कन्या के रूप में था और दूसरा एक दैत्य के रूप में। मुनि ने दोनों को आज्ञा दी–''जाकर यवक्रीत को मार डालो !''

दोनों यवक्रीत के पास पहुँचे। सुन्दरी कन्या ने हावभाव से उसका मन मोह लिया और अवसर पाकर उसका कमण्डल लेकर खिसक गई। उसी समय पिशाच भाला लेकर यवक्रीत पर झपटा। यवक्रीत हड़बड़ा उठा। इधर-उधर देखा, कमण्डल गायब था। पानी न हो तो वह शाप कैसे दे सकता था। वह तालाब की ओर भागा। तालाब सूखा पड़ा था। झरने की ओर भागा। झरना भी सूखा था। नदी की ओर भागा, नदी भी सूखी थी। और पिशाच बराबर भाला ताने पीछे-पीछे आ रहा था। अन्त में बेचारा पिता की यज्ञशाला में घुसने लगा। वहाँ का द्वारपाल काना था। वह भयातुर यवक्रीत को पहचान न सका और उसने उसे अन्दर जाने से रोक दिया। उसी समय पिशाच वहाँ पहुँच गया

और उसने तुरन्त भाले से यवक्रीत को मार डाला।

यवक्रीत ने जो पाप किया था, उसी का फल उसे मिला। लेकिन पुत्र को मरा देखकर भरद्वाज होश खो बैठे। उन्होंने रैभ्य मुनि को शाप दे डाला, ''तुम्हारी मृत्यु तुम्हारे अपने पुत्र के हाथ से होगी।''

जब होश आया तो बहुत दुःख हुआ। इतना दुःख हुआ कि वह पुत्र की चिता में जल मरे।

यवक्रीत की मूर्खता और घमण्ड ने सबका सत्यानाश कर डाला।



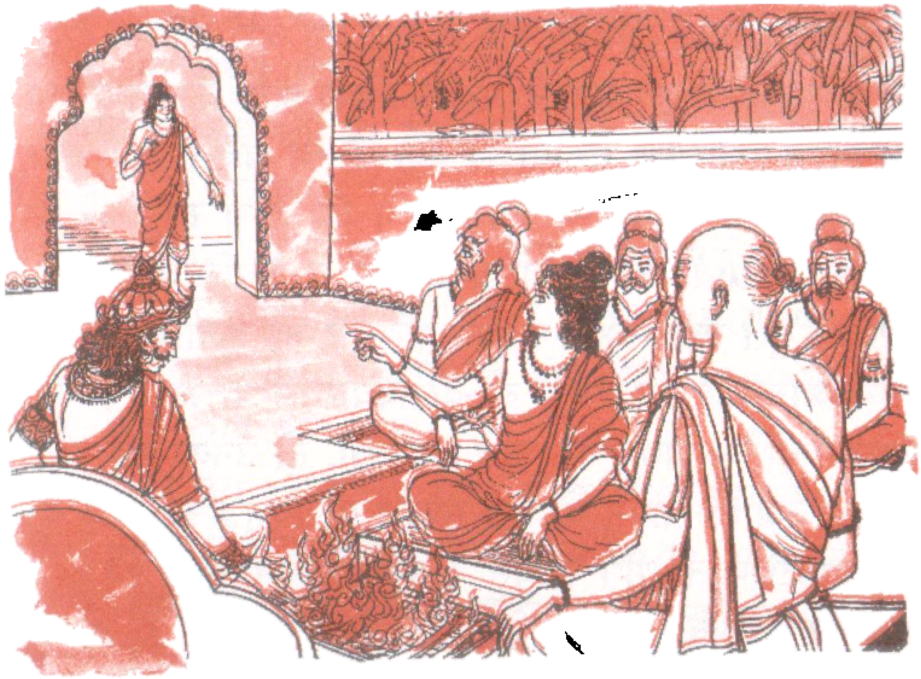
विद्या विनयेन शोभते

रैभ्य मुनि के शिष्य राजा बृहद्युम्न थे। एक बार उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ करने का विचार किया। उन्होंने रैभ्य मुनि से प्रार्थना की कि वे यज्ञ कराने के लिए अपने दोनों पुत्रों को भेज दें। मुनि को क्या आपत्ति हो सकती थी ? बस पिता की आज्ञा पाकर परावसु और अर्वावसु राजा के पास पहुँच गए। यज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं।

काफी दिन बीत जाने पर एक दिन परावसु के मन में आया—क्यों न मैं अपनी पत्नी से मिल आऊँ। यज्ञ में तो अभी बहुत दिन शेष हैं।

बस, यह सोचकर वह आश्रम की ओर चल पड़े। रात भर चलते रहे। अगले दिन बहुत तड़के वह आश्रम में पहुँचे। अभी अँधेरा था और आश्रम के पास एक झाड़ी थी। परावसु ने देखा, वहाँ एक हिंसक पशु-सा कुछ मालूम होता है। उन्हें डर लगा और वह उस पर हथियार चला बैठे। लेकिन जब पास पहुँचे तो देखा कि वह तो उनके पिता रैभ्य मुनि थे। उन्होंने हिंसक पशु की खाल ओढ़ी हुई थी और उनके प्राण निकल चुके थे।

परावसु को बहुत दुःख हुआ। लेकिन भरद्वाज के शाप के कारण उनके पिता की मृत्यु इसी प्रकार होनी थी। यह सोचकर



उन्होंने सन्तोष कर लिया। उसके बाद पिता का दाह-संस्कार किया और राजा बृहद्युम्न के पास लौट गए। अपने भाई अर्वावसु से उन्होंने सब हाल कहा और बोले, "मेरे इस पाप के कारण यज्ञ में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। मैं अकेला यज्ञ का काम चला लूँगा। तुम मेरे स्थान पर जाकर इस ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त कर आओ। शास्त्रों में लिखा है कि अनजाने की गई हत्या का प्रायश्चित्त हो सकता है। तुम अकेले यज्ञ का काम नहीं कर सकोगे, इसलिए मेरा जाना ठीक न होगा। तुम ही मेरे बदले व्रत रखो और प्रायश्चित पूरा करके लौट आओ।"

अर्वावसु बड़े धर्मात्मा थे। बड़े भाई की बात सुनकर वह बोले, 'ठीक है, आप राजा का यज्ञ कराइए। सचमुच मैं अकेले यह काम नहीं संभाल सकूँगा। आपके स्थान पर ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त मैं करूँगा और जब व्रत समाप्त हो जाएगा तब लौट आऊँगा।"

इतना कहकर अर्वावसु वहाँ से चले गए और विधि-अनुसार व्रत धारण करते हुए उन्होंने भाई की ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित्त पूरा किया। जब व्रत समाप्त हो गया तो वह यज्ञशाला में लौट आए। लेकिन परावसु ने अपने पिता की हत्या स्वयं की थी और उसका प्रायश्चित्त किया था अर्वावसु ने, इसलिए ब्रह्म-हत्या का दोष धुल नहीं सका। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका मन अशान्त हो उठा। उन्हें बुरे-बुरे विचारों ने घेर लिया। जिस समय उन्होंने अर्वावसु को आते हुए देखा, तो उनका मन ईर्ष्या से जल उठा। अर्वावसु के मुख-मण्डल पर विशुद्ध ब्रह्म-तेज की आभा फूटी पड़ती थी। परावसु ने उनके सामने अपने को बहुत ही छोटा अनुभव किया। मनुष्य जब छोटा हो जाता है, तो वह बुरे से बुरा काम करने में भी नहीं हिचकता। परावसु अपने आज्ञाकारी छोटे भाई तक को अपमानित करने के लिए तैयार हो गए। उन्होंने चिल्लाकर राजा बृहद्युम्न से कहा, ''अर्वावसु हत्यारा है। इसने ब्रह्म-हत्या की है। यह इस पवित्र यज्ञशाला में कैसे प्रवेश कर रहा है ?''

यह सुनकर राजा ने अपने सेवकों से कहा, ''इस अर्वावसु को यज्ञशाला से बाहर निकाल दो !''

अर्वावसु हतप्रभ हो उठे। किसी तरह अपने को संभाल कर उन्होंने विनम्र स्वर में राजा से कहा, ''राजन्, मैं सच कहता हूँ कि मैंने ब्रह्म-हत्या नहीं की; वास्तव में ब्रह्म-हत्या मेरे भाई ने की है। चूँकि मैं यज्ञ का भार अकेला नहीं संभाल सकता था, इसलिए मैंने उनकी ओर से प्रायश्चित्त किया है।''

लेकिन अर्वावसु की इस बात पर किसी ने यकीन नहीं किया। भला कोई दूसरे के लिए प्रायश्चित्त क्यों करेगा। सो उन्हें अपमानित करके यज्ञशाला से निकाल दिया गया। लोग तरह-तरह की बातें कहने लगे, 'देखो तो कैसा अंधेर है–पहले

तो ब्रह्म-हत्या की, उसका प्रायश्चित्त भी किया और फिर दोष लगाने लगे अपने भाई पर ?'

धर्मात्मा अर्वावसु का हृदय हाहाकार कर उठा। चुपचाप यज्ञशाला से निकलकर वह गहन वन में चले गए और वहाँ उन्होंने घोर तपस्या आरम्भ की। जब उनका तप बहुत कठोर हो उठा, तो देवताओं को बड़ा क्लेश हुआ। वे धरती पर आए और अर्वावसु से पूछा, "महात्मन्! आप किस कामना के लिए इतना कठोर तप कर रहे हैं ?"

अर्वावसु जब अपमानित होकर यज्ञशाला से निकले थे, तो उनको अपने भाई पर बहुत क्रोध हो आया था। उनसे बदला लेने के लिए ही उन्होंने इतना कठोर तप किया था, लेकिन इस कठोर तप और साधना ने उनके मन को निर्मल कर दिया। उन्होंने देवताओं से प्रार्थना की, "मेरे भाई परावसु के सब दोष दूर हो जाएँ और मेरे पिता रैभ्य फिर जीवित हो उठें !"

देवताओं ने प्रसन्न होकर कहा, "ऐसा ही होगा !"

अर्वावसु और परावसु दोनों एक पिता के पुत्र थे–एक महान पिता के पुत्र। दोनों ने उन्हीं से विद्या प्राप्त की थी। लेकिन केवल विद्या से ही मनुष्य बड़ा नहीं होता। विद्या के साथ विनय भी चाहिए। भलाई को ग्रहण करने के लिए और बुराई से दूर रहने के लिए भले और बुरे का भेद समझना आवश्यक है। लेकिन यह ज्ञान विचारों में इस तरह से समा जाना चाहिए कि उसके कामों पर उसका कोई प्रभाव न पड़े। ऐसा होने पर ही विद्या विनय का रूप लेती है। ज्ञान गुण की जगह नहीं ले सकता। वह केवल जानकारी भर देता है। जैसे मनुष्य शरीर पर वस्त्र धारण करता है, लेकिन वस्त्र ही तो मनुष्य नहीं है। मनुष्य तो शील है, विनय है। तभी तो कहा है, "विद्या विनयेन शोभते'–विद्या की शोभा विनय से है।



यक्ष और युधिष्ठिर

पाँचों पाण्डव वनवास की अवधि पूरी होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दिन एक हिरण के पीछे भागते-भागते वे बहुत थक गए। हिरण कहीं गायब हो गया और प्यास के मारे पाँचों भाइयों के प्राणों पर आ बनी। बड़े भाई की आज्ञा पाकर नकुल एक पेड़ पर चढ़े और देखा–कुछ दूरी पर पानी के पास उगने वाले कुछ पौधे दिखाई दे रहे हैं। कुछ बगुले भी बैठे हैं।

बस, नीचे उतर कर वह उसी ओर चल दिए। लेकिन बहुत देर हो जाने पर भी वापस नहीं लौटे। तब चिन्तित होकर युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव भी बहुत देर तक नहीं लौटे तो अर्जुन को भेजा। लेकिन अर्जुन भी नहीं लौटे। बाट जोहते-जोहते युधिष्ठिर व्याकुल हो उठे। उन्होंने भी भीमसेन से कहा, ''देखो तो, वे सब कहाँ रह गए ?''

लेकिन भीमसेन भी लौटकर नहीं आए। अब तो युधिष्ठिर स्वयं उसी ओर चल पड़े। बड़ी दूर जाने पर वह एक तालाब के पास पहुँचे। देखते क्या हैं–उनके चारों भाई वहाँ मरे पड़े हैं। उनका हृदय असह्य शोक से तिलमिला उठा। वे विलाप करने लगे। विलाप करते-करते उन्होंने बड़े ध्यान से भाइयों के शरीरों को देखा। कोई घाव नहीं, कोई परिवर्तन नहीं, ऐसा



लगता है जैसे थक कर सो गए हों। कहीं आस-पास कोई शत्रु भी तो नहीं। अवश्य दुर्योधन ने इस पानी में विष मिला दिया है।

यह सोचकर वे तालाब की ओर बढ़े। तभी सहसा किसी

ने पुकारकर कहा, "सावधान ! तुम्हारे भाइयों ने मेरी बात नहीं मानी, तुम भी अगर ऐसा ही करोगे तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। यह तालाब मेरा है। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पीओ !"

धर्मात्मा युधिष्ठिर समझ गए कि यह यक्ष है। बोले, "अच्छी बात है। मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। पूछिए !"

यक्ष ने पूछा। "सूर्य किसकी आज्ञा से प्रतिदिन उगता है ?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की आज्ञा से।"

यक्ष ने पूछा, "मनुष्य का साथ सदा कौन देता है?"

युधिष्ठिर बोले, "धैर्य।"

यक्ष ने पूछा, "धरती से भारी चीज़ क्या है?"

युधिष्ठिर बोले, "सन्तान को कोख में धारण करने वाली माता।"

यक्ष ने पूछा, "आकाश से भी ऊँचा कौन है?"

युधिष्ठिर बोले, "पिता।"

यक्ष ने पूछा, "हवा से भी तेज़ कौन चलता है?"

युधिष्ठिर बोले, "मन।"

यक्ष ने पूछा, "सुख क्या है?"

युधिष्ठिर बोले, "जो शील और सच्चरित्रता पर आधारित है वही सुख है।"

यक्ष ने पूछा–"वह क्या है जिसके खो जाने से दुःख नहीं होता?"

युधिष्ठिर बोले, "क्रोध।"

यक्ष ने पूछा, "वह क्या है जिसको खोकर मनुष्य धनी हो जाता है?"

युधिष्ठिर बोले, "लालच।"

यक्ष ने पूछा, "युधिष्ठिर, अच्छी तरह सोचकर बताओ कि ब्राह्मण का होना किस बात पर निर्भर है—जन्म पर, विद्या पर या शील पर ?"

युधिष्ठिर बोले, "शील पर। शील के बिना कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। चारों वेदों का जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है लेकिन उसका चरित्र भ्रष्ट है, तो वह ब्राह्मण नहीं है, नीच है।"

इस प्रकार यक्ष ने और भी अनेक प्रश्न किए। लेकिन युधिष्ठिर बिना किसी हिचक के सबके ठीक-ठीक उत्तर देते चले गए। अन्त में यक्ष बोला—"धर्मराज युधिष्ठिर, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे चार भाइयों में से एक को जिला सकता हूँ। बोलो, किसको जिलाऊँ ?"

युधिष्ठिर ने एक क्षण सोचा। फिर कहा—"जिसका रंग साँवला है और आँखें कमल के समान हैं। जिसकी छाती विशाल है और भुजाएँ लम्बी-लम्बी हैं, वही मेरा भाई नकुल आपकी कृपा से जीवित हो उठे !"

युधिष्ठिर अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाए थे कि यक्ष उनके सामने प्रकट हो गया। बोला, 'युधिष्ठिर, मैंने तो सुना है कि जिसके शरीर में दस हज़ार हाथियों का बल है, उस भीमसेन को तुम सबसे अधिक प्यार करते हो। उसको छोड़कर तुमने नकुल को जिलाना क्यों ठीक समझा ? कम-से-कम अर्जुन को ही जिलाने की बात कहते। वह तुम्हारी बार-बार रक्षा करता रहा है। अपने इन दो रण-बाँकुरे भाइयों के सामने तुम नकुल को क्यों इतना चाहते हो ?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"यक्षराज ! मनुष्य की रक्षा न तो

भीम करता है न अर्जुन करता है, धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। धर्म ही मनुष्य का नाश करता है। मैं नकुल को क्यों चाहता हूँ–यह बड़ी सीधी-सी बात है। मेरे पिता की दो पत्नियाँ थीं, कुन्ती का पुत्र मैं जीवित हूँ। माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिए। नकुल उन्हीं के पुत्र हैं। आपकी कृपा से वही जीवित हों !''

गद्‌गद्‌ होकर यक्ष ने कहा–''मेरे प्यारे पुत्र, तुम पक्षपात से रहित हो। तुम्हारे चारों ही भाई जीवित हो उठें !''

स्वयं धर्मराज यक्ष का रूप धारण करके आए थे, इससे पहले हिरण का रूप भी उन्होंने ही धारण किया था। वह अपने पुत्र युधिष्ठिर की परीक्षा लेना चाहते थे। उनके इन गुणों पर मुग्ध होकर उन्होंने युधिष्ठिर को छाती से लगा लिया और कहा, ''तुम्हारे वनवास की अवधि पूरी होने वाली है। अज्ञातवास का समय भी तुम सफलता से पूरा कर लोगे, तुम्हें कोई पहचान नहीं सकेगा।''

यह कहकर धर्मराज चले गए और ये पाँचों भाई भी प्रसन्न होकर अपने स्थान पर लौट आए।



दान की महिमा

प्राचीन काल में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करते थे। उस समय बोधिसत्त्व ने विसह्य सेठ के रूप में धरती पर जन्म लिया। वह बहुत धनी थे, साथ ही दानी और पाँचों शीलों का पालन करने वाले भी थे। उन्होंने नगर के चारों ओर के दरवाज़ों पर, नगर के बीच में और अपने दरवाज़े पर भी दान देने के लिए दानशालाएँ बनवा रखी थीं। प्रतिदिन छह लाख मोहरों का दान होता था। सारे जम्बू द्वीप में उनकी चर्चा थी। उनकी यह गाथा सुनते-सुनते एक दिन शक्र (इन्द्र) का सिंहासन भी डोल उठा। वह सोचने लगा, ''यह कौन है, जो मुझे मेरे पद से गिराना चाहता है !'

उसने ध्यान लगाया तो मालूम हुआ कि वह विसह्य नाम का सेठ है। उसके दान की सारे जम्बू द्वीप में चर्चा हो रही है। हो सकता है कि अपने दान के प्रताप से मुझे सिंहासन से हटाकर वह स्वयं शक्र बन जाए। मैं उसके धन का नाश करके उसे दरिद्र बना दूँगा। तब वह दान नहीं कर सकेगा।

और उसने ऐसा ही किया। सब धन-धान्य, तेल, मधु, शक्कर, स्त्रियाँ, नौकर-चाकर सबको उसने अपने मन्त्र-बल से अन्तर्धान कर दिया। दान का प्रबन्ध करने वालों ने सेठ से

आकर कहा, "स्वामी, दानशालाएँ खाली हो गई हैं। जहाँ जो कुछ रखा हुआ था, वहाँ वह दिखाई नहीं देता। न जाने सारी सामग्री कहाँ चली गई ?"

सेठ ने उत्तर दिया, "दान देना मत रोको। धन यहाँ से ले जाओ। उससे और सामग्री खरीद लो, पर दान नहीं रुकना चाहिए।"

फिर उसने अपनी पत्नी को बुलाया। बोला, "भद्रे, दान चालू कराओ। इन्हें धन दो।"

पत्नी ने सारा घर खोज डाला, लेकिन कहीं भी उसे कुछ दिखाई नहीं दिया। आकर बोली, "आर्य, हम जो वस्त्र पहने हुए हैं, उनको छोड़कर हमारे घर में अब कुछ नहीं रहा। रत्नों से भरे जो सात कोठे थे, उनको खोलकर देखा तो वहाँ भी कुछ दिखाई नहीं दिया।"

सचमुच यही बात थी। सेठ और उसकी पत्नी को छोड़कर नौकर-चाकर तक गायब हो गए थे। सेठ ने फिर अपनी पत्नी से कहा, "भद्रे, कुछ भी हो, दान बन्द नहीं किया जा सकता। फिर खोजो। कुछ-न-कुछ तो निकलना ही चाहिए। कहीं कुछ छिपा पड़ा होगा।"

उसी समय ऐसा हुआ कि एक घसियारा दराँती, बहँगी और घास बाँधने की रस्सी दरवाज़े के अन्दर फेंक कर भाग गया। पत्नी ने उन्हीं को उठाकर सेठ को दे दिया और कहा, "स्वामी, इनके अतिरिक्त घर में अब कुछ नहीं है।"

सेठ ने उत्तर दिया, "भद्रे, अब से पहले मैंने कभी घास नहीं काटी, लेकिन आज घास काटने जाऊँगा और उसे बेचकर दान करूँगा।"

दान देना बन्द न हो जाय , इस डर से वह दराँती, बहँगी



और रस्सी लेकर नगर से निकला और वहाँ पहुँचा जहाँ घास थी। बेचारा सेठ घास खोदना क्या जाने, पर उसने बिना किसी संकोच के काम शुरू कर दिया और धीरे-धीरे घास छीलकर उसने दो ढेरियाँ बाँधीं। फिर उन्हें बहँगी पर रखकर नगर में

वेचने ले गया। मन-ही-मन सोचा कि जो धन मुझे मिलेगा, उसका एक भाग दान करूँगा और दूसरे भाग से अपना काम करूँगा।

उसने ऐसा ही किया। जो धन मिला, उसका एक भाग उसने याचकों में बाँट दिया। इस प्रकार छह दिन बीत गए। सातवें दिन जब घास लेकर जा रहा था, तो निराहार रहने के कारण धूप में उसकी आँखें चकरा गईं। देखने में असमर्थ वह वहीं गिर पड़ा। घास चारों ओर विखर गई। शक्र सब-कुछ देखता हुआ घूम रहा था। आकाश में खड़े होकर उसने कहा, "विसह्य, तूने पूर्व समय में बहुत दान दिया है। दान देते-देते तेरा सभी धन खर्च हो गया। यदि तू भविष्य में दान न देने की प्रतिज्ञा करे तो मैं सब धन लौटा दूँगा।"

सेठ ने बात सुनी। फिर आँखें खोलकर पूछा, "तू कौन है ?"

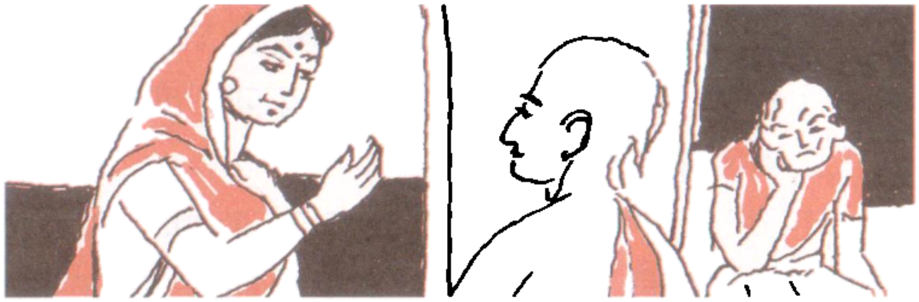
शक्र ने उत्तर दिया, "मैं शक्र हूँ।"

सेठ बोला, 'तू शक्र है। शक्र तो स्वयं दान देकर, पाँचों शीलों का पालन कर, और सात व्रत पूरे कर, शक्रत्व को प्राप्त हुआ है। मैं दान देना बन्द नहीं कर सकता।"

तब शक्र ने पूछा, "तू किसलिए दान देता है ?"

सेठ ने उत्तर दिया, "मुझे न तो शक्र बनने की इच्छा है, न ब्रह्म को पाने की इच्छा है। मैं तो सर्वज्ञता के लिए दान देता हूँ।"

शक्र ने यह सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेठ की पीठ पर हाथ फेरा। देखते-देखते बोधिसत्त्व पहले की भाँति हो गया, जैसे उसने उपवास किया ही न हो। शक्र ने उसका सारा धन भी लौटा दिया। और अपने पास से और भी अपरिमित धन दिया, और फिर अपने लोक को लौटते हुए उसने कहा, "हे महासेठ, अब तू प्रतिदिन बारह-बारह लाख मुद्राएँ दान में दे सकता है।"



धर्म का रहस्य

एक मुनि किसी गृहस्थ के घर भिक्षा के लिए गया। घर में एक वृद्ध पुरुष और उसकी एक पुत्रवधू यही दो व्यक्ति थे। वृद्ध पुरुष धर्म-कर्म में विश्वास नहीं करता था। मुनि को देखकर उसकी पुत्रवधू ने सादर प्रणाम किया। मुनि की आयु बहुत थोड़ी थी। उस बहन ने कहा, "मुनिवर, अभी तो सवेरा ही है !"

शिशु मुनि ने उत्तर दिया, "बहन, मुझे काल का पता नहीं चलता।"

वृद्ध पुरुष को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया। कैसी मूर्ख है यह बहू। सूरज सिर पर चढ़ आया है और कहती है अभी सवेरा है।

तभी मुनि ने पूछा, "बहन, तुम्हारे घर का क्या आचार है ?"

बहन ने उत्तर दिया, "मुनिवर, हम तो बासी ही खाते हैं।"

मुनि ने पूछा, "तुम्हारा पुत्र कितने वर्ष का है ?"

बहन बोली, "सोलह वर्ष का।"

मुनि ने पूछा, "तुम्हारे पति की आयु क्या है ?"

बहन ने उत्तर दिया, "आठ वर्ष।"

मुनि ने पूछा, "और श्वसुर ?"

बहन बोली, "वह तो अभी पालने में ही झूल रहे हैं।"

यह वार्तालाप सुनकर वृद्ध आगबबूला हो उठा। यह कैसी पुत्रवधू है कि वह मेरी और मेरे घर की इज़्ज़त ख़ाक में मिला रही है और झूठ बोले जा रही है।

जब मुनि भिक्षा लेकर शान्त भाव से चले गए तो उसने अपनी पुत्रवधू को बहुत डाँटा। पुत्रवधू ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "आप मुझे डाँटें, यह आपको शोभा नहीं देता पिताजी, भला मैं साधु के प्रश्नों का उत्तर कैसे न देती ? आप इनके पास जाइए। वहाँ इनके गुरु भी होंगे। उनसे कह आइए कि वह अपने शिष्य को फिर कभी यहाँ न आने दें।"

वृद्ध को यह बात जँच गई। वह कई बार इन साधुओं को डाँटने की बात सोचा करता था। आज अच्छा अवसर हाथ आया है। ऐसा उलाहना दूँगा कि फिर वह मेरे घर तक आने का कभी नाम न लेगा। यही सोचता हुआ वह गुरु के पास जा पहुँचा। परन्तु उन्हें देखते ही उसका सिर अपने-आप ही झुक गया और उसने प्रणाम करने के बाद कहा, "आज आपका छोटा साधु मेरे घर भिक्षा के लिए गया था। लेकिन वहाँ उसने बहुत ही अशोभनीय बातें की हैं।"

गुरुजी ने उस शिशु मुनि को बुलाया। उसने सब-कुछ सुनकर कहा, "गुरुदेव, इनसे पूछिए, मैंने क्या अशोभनीय बातें कीं ?"

वृद्ध बोला, 'मेरी पुत्रवधू ने इससे कहा, अभी तो सवेरा ही है; और इसने उत्तर दिया, मैंने काल को नहीं जाना। भला क्या यह बात सच हो सकती है ?"

शिशु-मुनि बोले, "जी, यही बात हुई थी। इसका अर्थ है–बहन ने मुझे से पूछा था, 'आपने इस उभरती हुई आयु में संन्यास का कठोर मार्ग क्यों ग्रहण किया ?' मैंने उत्तर दिया



था, "बहन, काल अर्थात् मृत्यु का कोई भरोसा नहीं। गुरुदेव, इसमें तो कोई अशिष्ट बात नहीं है।"

वृद्ध ने कहा, "अच्छा। इस बात को छोड़िए। दूसरी बात इस साधु ने पूछी थी, 'तुम्हारे घर का क्या आचार है ?' और मेरी पुत्रवधू ने उत्तर दिया था, 'हम तो बासी ही खाते हैं।' भला इसमें क्या ज्ञान की बात थी ?"

शिशु-मुनि ने कहा, "गुरुदेव! मैंने पूछा था, 'तुम्हारे घर का क्या आचार है, अर्थात् क्या धर्मानुष्ठान होता है ?' बहन ने उत्तर दिया था, 'हम तो बासी ही खाते हैं'; अर्थात् पूर्व जन्म में जो धर्म-कर्म किए होंगे, उसी के फलस्वरूप हमें सब-कुछ प्राप्त है। आगे के लिए हम कुछ नहीं कर रहे। भला इसमें कौन सी बुरी बात है ?"

वृद्ध पुरुष चकित तो हुए, लेकिन उन्होंने फिर कहा, "अच्छा,

इसको भी छोड़िए। मेरी पुत्रवधू ने अपने पुत्र की आयु सोलह वर्ष पति की आयु आठ वर्ष और मुझ वृद्ध पुरुष को पालने में झूलने वाला ही बताया था। भला यह बात कैसे सही हो सकती है ?''

शिशु मुनि ने उत्तर दिया, ''गुरुदेव ! मैंने बहन से पूछा था कि तुम्हारे घर में कोई धर्मज्ञ है या नहीं? इस पर उसने उत्तर दिया था, 'मेरा पुत्र जन्म से ही धर्म-कर्म जानता है और उसकी आयु सोलह वर्ष की है। मेरे पति पहले तो परम नास्तिक थे, किन्तु अब मेरे समझाने-बुझाने से धर्म के मर्म को समझने लगे हैं और आठ वर्ष से वह भी धर्मनिष्ठ हैं, लेकिन मेरे श्वसुर आज भी धर्म की बात सुनना नहीं चाहते।' यह वृद्ध पुरुष धर्म का रहस्य जानते, तो आपके पास आते ही नहीं।''

यह सुनकर वृद्ध पुरुष बहुत लज्जित हुए। वह अब धर्म के रहस्य को और उसकी शक्ति को समझ गए थे।



लालच का फल

प्राचीन काल में एक राजा हुआ है। उसको आम खाने का बहुत ही शौक था, लेकिन उसे आमवात रोग भी था। नाना प्रकार की चिकित्सा करवाने पर भी उसका वह रोग शान्त नहीं हुआ। अन्त में एक अत्यन्त अनुभवी चिकित्सक ने बड़ी खोज करने के बाद रोग के कारण का पता लगाया। उसने राजा से कहा, ''आपको यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि आप कभी आम नहीं खाएँगे।''

राजा का मन तो नहीं करता था, लेकिन जब कुछ दिन की चिकित्सा के बाद उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा तो उसने चिकित्सक को विश्वास दिलाया कि वह अब इस जीवन में ऐसी गलती कभी नहीं करेगा।

राजा की सुरक्षा के लिए मन्त्रियों ने राज्य में जितने भी आम के पेड़ थे, सब उखड़वा दिये। बाहर से आमों के मँगाने पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा और उसके साथ ही राजा का रोग भी शान्त होने लगा। एक दिन वह पूर्ण स्वस्थ हो गया। तभी की बात है, ग्रीष्म ऋतु का समय था, सवेरे-सवेरे ही राजा और मन्त्री घोड़ों पर चढ़कर घूमने के लिए चल दिए। घूमते-घूमते

वह अपने राज्य की सीमा को लाँघ गए। दोपहर आ गई और कड़ी धूप के कारण राजा अकुलाने लगा। उसने मन्त्री से कहा, ''किसी सघन वृक्ष की छाया में चलना चाहिए।''

कुछ दूर पर एक वृक्ष दिखाई दिया, लेकिन वह आम का वृक्ष था। मन्त्री ने कहा, ''महाराज, उधर नहीं चलेंगे।''

राजा ने पूछा, ''क्यों?''

मन्त्री बोला, ''महाराज, वह वृक्ष आम का है। आपके स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है।''

राजा ने उत्तर दिया, ''चिकित्सक ने आम खाने का निषेध किया है। छाया में बैठने का नहीं। धूप के मारे मेरे प्राण निकल रहे हैं। वहीं चलना चाहिए।''

मन्त्री ने बहुत रोका, लेकिन राजा ने एक नहीं मानी। फिर तो पलक मारते ही दोनों वहाँ पहुँच गए। वृक्ष की सघन छाया में थोड़ी देर विश्राम करने के बाद उनकी थकान दूर हो गई। तब राजा ने दृष्टि उठाई। पेड़ पर अनेक पके हुए आम लगे हुए थे। राजा के मुँह में पानी भर आया। बोला, ''कितने सुन्दर फल हैं। अपने देश में हमने ऐसे आम कभी नहीं खाये।''

यह सुनकर मन्त्री राजा से चलने के लिए कहने लगा, लेकिन राजा उन फलों की प्रशंसा ही करता रहा। तभी हवा के झोंके से एक पका हुआ मीठा आम अचानक वृक्ष से टूटा और राजा की गोद में आ गिरा। मन्त्री ने तुरन्त उस फल को उठाना चाहा। लेकिन राजा ने उसे अपने हाथ में ले लिया। मन्त्री बोला, ''महाराज ! आप आमवात के रोगी रह चुके हैं।''

बात काटकर राजा ने कहा, ''तू तो बहुत भोला है। मैं कोई बच्चा थोड़े ही हूँ कि आम खाकर अपना जीवन संकट में डालूँगा।''



मन्त्री बेचारा कर ही क्या सकता था ! बस देखता रहा। और राजा कभी उस आम के फल को सूँघता, कभी सहलाता, कभी बोल उठता—ऐसा आम मैंने कभी नहीं देखा, कभी नहीं खाया।"

फिर एकाएक बोला, "यदि मैं इसके रस की एक घूँट भर लूँ तो क्या हानि है ? रोग तो पूरा आम खाने से भड़केगा। एक घूँट से कुछ नहीं होगा।"

अब तो मन्त्री ने बरबस राजा का हाथ पकड़ लिया और आम छीन लिया। राजा हँस पड़ा। मन्त्री ने कहा, "महाराज, रहने दीजिए। राजधानी लौट चलिए। आप आम नहीं खा सकते।"

मन्त्री जैसे-जैसे राजा को रोकने का प्रयत्न करता और वहाँ से चलने को कहता, वैसे-वैसे राजा का मन आम खाने को और भी लालायित हो उठता। धीरे-धीरे यह स्थिति आ गई कि

वह आम खाने की लालसा को नहीं रोक सका। कहा, ''राजधानी पहुँचते ही मैं दवा ले लूँगा। अब तुम मुझे आम खा लेने दो।''

और यह कहते-कहते वह सारा आम खा गया। मन्त्री रोता-चिल्लाता ही रहा। फिर दोनों राजधानी की ओर लौट चले, लेकिन थोड़ी दूर ही गए होंगे कि राजा का जी घबराने लगा।

मन्त्री ने कहा, ''मैंने तो आपसे पहले ही कहा था। अब मैं क्या कर सकता हूँ।''

राजा हँस पड़ा। बोला, ''तू तो बहुत डरता है। अरे, यह पुराना रोग नहीं है। गर्मी में घूमने से जी घबरा गया है। अभी शहर पहुँच कर दवा ले लेते हैं।''

इस तरह दोनों बात करते हुए शहर के समीप पहुँच गए लेकिन तब तक राजा का रोग काफी बढ़ गया था। राजमहल में पहुँचकर चिकित्सक बुलाया गया। उसने राजा को देखते ही एक बात कही, ''अब मेरे हाथ की बात नहीं रही।''

क्षण-भर में हाहाकर मच गया। राजा तड़पने लगा। किसी औषधि-उपचार से कोई लाभ नहीं हुआ। देखते-देखते राजा चिरनिद्रा में सो गया और उसी के साथ उसकी पीड़ा भी शान्त हो गई। लालच का यही फल हो सकता है!



झूठा गर्व

प्राचीन काल में एक धनी वैश्य रहता था। उसके कई पुत्र थे, उनका वह बड़े लाड़-प्यार से पालन-पोषण करता था। उनके मनोरंजन के लिए उसने अपने यहाँ एक कौवा पाल रखा था। नित्य घर की जूठन खाकर वह कौवा मोटा-ताज़ा होता जा रहा था। पेट भरने के लिए उसे कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता था। वहीं घर की छत पर बैठा रहता और थोड़ा इधर-उधर उड़ लिया करता। काफी जूठन मिलने के कारण वह दिनों-दिन मोटा-ताज़ा भी होता जा रहा था। इसी कारण अभिमान भी उसे बहुत हो गया था। किसी को अपने बराबर नहीं समझता था और सदा दूसरे पक्षियों का अपमान किया करता था।

एक दिन मानसरोवर में रहने वाले पक्षियों के राजा हंस उड़ते-उड़ते वहाँ आ पहुँचे। उन्हें बड़ी तेज़ी से आकाश में उड़ते देखकर वैश्य के बेटों ने कौवे से कहा, "हे काग ! तुम तो अपने को सभी पक्षियों में श्रेष्ठ मानते हो। देखो, ये हंस कितनी तेज़ चाल से उड़ रहे हैं। क्या तुम इनके समान तेज़ गति से उड़ सकते हो ? हमारा विचार है कि तुम इनसे भी अधिक तेज़ी से उड़ सकोगे ?"

वैश्य कुमारों के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर वह अभिमानी

कौवा और भी फूल उठा। अपने को हंसों से कहीं अधिक तीव्रगामी समझने लगा। बोला, "अवश्य उड़ सकूँगा। ये हंस मेरे सामने क्या उड़ेंगे। मैं सौ प्रकार की चालें जानता हूँ और सौ योजन तक उड़कर जा सकता हूँ।"

यह सुनकर बनिए के बेटे उसे हंसों के साथ उड़ने के लिए उकसाने लगे। बस, कौवा उड़कर आकाश में पहुँचा और उन हंसों में जो सबसे श्रेष्ठ हंस था उससे बोला, "अरे हंस ! इस तरह अकेले-अकेले क्या आकाश में उड़ते फिरते हो। यदि तुम में शक्ति है तो मेरे साथ होड़ लगाकर उड़ो।"

कौवे की यह बात सुनकर हंस हँसने लगे। एक हंस ने उसका मज़ाक उड़ाते हुए कहा, "अरे कौवे ! अपने आपको देख और फिर बात कर। अरे मूर्ख, कहाँ तू और कहाँ हम ! हम मानसरोवर में रहने वाले हंस हैं। दूर-दूर तक आकाश में विचरण करते रहते हैं। तू एक क्षुद्र पक्षी है। पेड़ की इस डाल से उस डाल तक उछला करता है। अपने पैरों को देख, तू हमारे साथ क्या होड़ करेगा। क्यों मूर्ख बनता है !"

यह सुनकर कौवा गुस्से में भर उठा। बोला, "अरे हंसो ! मेरा उपहास न करो। देखने में छोटा हूँ तो क्या हुआ, गुण में तुमसे बड़ा हूँ। मैं उड़ने की सौ रीतियाँ जानता हूँ। सौ योजन तक उड़ सकता हूँ। ज़रा मेरा बल और कौशल तो देखो। बताओ, किस रीति से मेरे साथ उड़ोगे ?"

कौवे की यह गर्वोक्ति सुनकर हंस और भी ज़ोर से हँस पड़े। एक बोला, "भैया कौवे, तुम तो हमारे गुरु बनने योग्य हो। हमें ये विद्याएँ सिखा दो न ! हमें तुमसे डर लगता है। हम तो एक ही विद्या जानते हैं।"

उसी समय और भी पक्षी वहाँ आ गए और कौवे की हँसी



उड़ाने लगे। बोले, ''इन बेचारे हंसों की क्या मजाल, जो तुम्हारा मुकाबला कर सकें ! भला तुमसे बढ़कर कोई उड़ाका है ?''

कौवा और भी फूल उठा। जो मूर्ख हैं, वे सच्चाई नहीं पहचान पाते। इसलिए कौवा व्यंग्य को भी सच ही समझ रहा था। बस, कुछ ही क्षण बाद एक हंस के साथ वह आकाश में उड़ने लगा। गर्व से फूल कर वह अपनी गतियों का प्रदर्शन करने को उत्सुक हो उठा। लेकिन हंस बराबर सम चाल से उड़ता रहा। शुरू में वह कौवे से कुछ पीछे रह गया था। कौवा और फूल उठा। धीरे-धीरे वे समुद्र के ऊपर आ गए। थोड़ी ही देर में अपनी उतावली के कारण कौवा थकने लगा। उसकी चाल धीमी पड़ने लगी। और वह हंस से पीछे रह गया। हंस एक ही गति से आगे बढ़ रहा था। कौवे के पैर फूलने लगे। ऐसा

लगा, जैसे वह समुद्र में गिर जाएगा और डूब जाएगा। दूर-दूर तक कहीं कोई सहारा नहीं। कोई रुकने का स्थान नहीं, बस समुद्र की उछलती हुई लहरें जैसे निगलने को आ रही हों। वह काँपने लगा। उसके लिए उड़ना असम्भव हो गया। यह देखकर हंस बोला, "क्यों जी ! क्या आपकी सब चालें खत्म हो गईं ? आप बार-बार गिर क्यों रहे हैं ?"

कौवा अब तक अपनी मूर्खता को पहचान गया था। विनम्र स्वर में बोला, "मुझे क्षमा करो ! अभिमानवश होकर मैं आपका अपमान कर रहा था। मैं जाति का कौवा हूँ। मेरी बिसात ही क्या है। मुझे बचाइए !"

कौवे का यह करुण स्वर सुनकर हंस को दया आ गई। एक क्षण की देर करने का भी अवसर नहीं था। उसने कहा, "आओ, तुम मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें समुद्र के पार ले जाऊँगा।"

कौवा तुरन्त हंस की पीठ पर बैठ गया और दीन स्वर में बोला, "हे हंस, मैं जानता हूँ कि मुझे झूठा गर्व हो गया था। मैंने जूठन खाकर अपनी काया को मोटा किया। मैं सदा दूसरों पर निर्भर रहा हूँ, इसी कारण मैंने आपका और दूसरे पक्षियों का अपमान किया। लेकिन अब मेरी आँखें खुल गई हैं। आज से मैं न तो किसी का अपमान करूँगा और न झूठा गर्व ही करूँगा।"



अहम् का परिणाम

अहम् मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। स्वामी रामतीर्थ इस सम्बन्ध में अनेक सुन्दर कहानियाँ प्रतीक रूप में सुनाया करते थे। एक बार अपने मधुर भाषण में उन्होंने निम्नलिखित दो कहानियाँ सुनायीं।

किसी समय में एक ऐसा चतुर मनुष्य था कि वह अपने-आपको अनेक रूपों में बदल सकता था। उसके वे रूप इतने सच्चे होते कि असली और नकली रूप में पहचान करना बहुत ही कठिन था। एक बार उसे पता चला कि यमराज के दूत उसे लेने आ रहे हैं। वह संकट में पड़ गया और सोचने लगा कि उनसे बचने का क्या उपाय करना चाहिए। अन्त में उसने एक उपाय ढूँढ़ ही निकाला। उसने अपने अलग-अलग एक दर्जन रूप धारण किये। जिस समय यमदूत आया तो वह चकित रह गया। वह यह न जान सका कि जिस व्यक्ति को मैं लेने आया हूँ, वह इनमें कौन-सा है। बहुत परेशान होकर वह यमलोक को लौट गया। और यमराज से सब कुछ निवेदन करके उसने पूछा, ''असली व्यक्ति को पहचानने के लिए मैं क्या करूँ ?''

यमराज ने उसके कान में कुछ कहा और वह फिर पृथ्वी पर लौट आया। वह वहीं पहुँचा, जहाँ एक दर्जन रूप धारण

किये वह व्यक्ति बैठा था। वहाँ पहुँचकर उसने कहा, "प्रियवर! तुम सचमुच बहुत ही चतुर हो। नाना रूप धारण करने की विद्या तुम्हें खूब आती है। तुम सिद्धहस्त हो। कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि मैं भी, इस कला में तुम्हारा मुकाबला नहीं कर सकता। लेकिन, मेरे मित्र, तुम एक गलती कर गए। बस, ज़रा-सी त्रुटि रह गई।"

यह सुनकर एक दर्जन रूप धारण करने वालों में जो वास्तविक व्यक्ति था, वह झट उछल पड़ा और पूछा, "वह क्या त्रुटि रह गई है ? किस बात में मैंने गलती की है ?"

यमदूत बोला, "इसी बात में।"

अब तो वह व्यक्ति सब-कुछ समझ गया। क्योंकि शेष मूर्तियाँ तो मूक थीं। उसका यह पूछना कि 'मैंने कहाँ गलती की' ही वास्तविक गलती थी। उसका अहम् जाग पड़ा था और वह यह नहीं चाहता था कि वह पराजित हो।

इसी प्रकार इस पूछने वाले के सिवाय तुम असल में और कौन हो सकते हो ? कर्ता-भाव का अभिमान ही अहम् है और यह अहम् ही मनुष्य को मृत्यु-रूप यमराज के वश में कर देता है।

दूसरी कहानी इस प्रकार है :

एक समय इस देश में बहुत भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। असंख्य नर-नारी मृत्यु के कराल पंजे में फँसकर तड़फड़ाने लगे। उन्हीं में एक गरीब स्त्री भी थी। जब बड़े-बड़े धनी-मानी मृत्यु के पंजे से न बच सके तो उस बेचारी गरीब स्त्री की क्या बिसात थी ! वह भी मर गई। यम के दूत उसे भी यम की पुरी में ले गए। वहाँ उसकी मरने के बाद ही जाँच-पड़ताल आरम्भ हो गई। अर्थात् उसके अच्छे और



बुरे कामों की जाँच-पड़ताल होने लगी। लेकिन ढूँढ़ने पर भी उसका कोई पुण्य कर्म दिखायी नहीं दिया। बस, इतना ही पता लगा कि एक बार किसी भूखे भिखारी को उसने एक गाजर या शायद एक मूली दान में दी थी। बस, यमराज ने आज्ञा

दी और वही गाजर वहाँ आकर उपस्थित हो गई। उसके बाद यह तय हुआ कि यह गाजर उसे स्वर्ग ले जाए।

वह स्त्री बहुत प्रसन्न हुई और उसने इस गाजर को पकड़ लिया। धीरे-धीरे वह गाजर स्वर्ग की ओर ऊपर उठने लगी। उसी के साथ ऊपर उठने लगी वह गरीब स्त्री।

ठीक इसी समय एक बूढ़ा भिखारी यमराज के न्यायालय में आ उपस्थित हुआ। उसने जब उस गरीब स्त्री को स्वर्ग की ओर जाते हुए देखा तो उसके फटे हुए कपड़ों के सिरे को कसकर पकड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि वह भी उनके साथ धीरे-धीरे स्वर्ग की ओर उठने लगा। एक तीसरे भिखारी ने इस दृश्य को देखा। बस, आव देखा न ताव, उसने पहले भिखारी के पैर ही पकड़ लिये। लो, वह भी ऊपर उठने लगा। अब तो यमराज के न्यायालय में भाग-दौड़ मच गई। जैसे ही पहला व्यक्ति ऊपर उठता नीचे खड़ा हुआ दूसरा व्यक्ति उसके पैर पकड़ लेता। इस प्रकार देखते-दखते उन व्यक्तियों की एक लम्बी पंक्ति हो गई और वे सब के सब ऊपर उठने वाली उस गाजर के सहारे स्वर्ग की ओर बढ़ने लगे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस स्त्री को अपने नीचे लटकती हुई इन असंख्य आत्माओं का बोझ बिलकुल भी मालूम नहीं दे रहा था। और वे क्षमाप्राप्त व्यक्ति ऊपर ही ऊपर उठते चले जा रहे थे। आखिर वे स्वर्ग के द्वार पर पहुँच गए। सब लोग बड़े प्रसन्न थे। वह स्त्री भी बहुत प्रसन्न थी और गद्गद-मन से चारों ओर स्वर्ग के सौन्दर्य को देख रही थी कि अचानक उसकी दृष्टि नीचे की ओर गयी। अरे यह क्या, ये असंख्य व्यक्ति मेरी इस गाजर के सहारे स्वर्ग की ओर चले आ रहे हैं। इन्हें क्या अधिकार है मेरी गाजर का सहारा लेने का ! यह गाजर मेरी है, मैं इसकी

स्वामिनी हूँ। केवल मैं ही इसके सहारे स्वर्ग पहुँच सकती है।

बस, यह विचार मन में आते ही उसने पीछे आने वाली आत्माओं से चिल्लाकर कहा, ''अरे, तुम सब मेरे पीछे क्यों आ रहे हो ? तुम सब लोग भाग जाओ। यह गाजर तो मेरी है।''

यह कहते हुए उसने आवेश में आकर हटाने के लिए अपना हाथ हिलाया कि गाजर हाथ से छूट गई और उन असंख्य आत्माओं के साथ वह स्त्री भी नीचे यमलोक में गिर पड़ी।

अहम् का यही परिणाम होता है !



अहमदाबाद के भामाशाह

एक बार निज़ामुलमुल्क के चाचा हामिद खाँ ने मराठों की सहायता से अहमदाबाद पर आक्रमण किया। सूबेदार इब्राहीम कुली खाँ अहमदाबाद के शासक थे। लेकिन वह हामिद खाँ की विशाल सेना के सामने ठहर न सके और भाग कर किले में जा छिपे। अब अहमदाबाद की रक्षा करने वाला कोई नहीं था। हामिद खाँ की सेना शहर में घुसकर लूट-मार और हत्या करने लगी। यह देखकर अहमदाबाद के अग्रगण्य पुरुष इकट्ठे हुए और यह विचार करने लगे कि नगर को इस विनाश से कैसे बचाया जाए। शत्रु का अत्याचार क्षण-प्रतिक्षण बढ़ रहा था। और पीड़ित जनता हाहाकार कर रही थी। इसी समय एक जैन वणिक आए। उसका नाम नगरसेठ खुशालचन्द्र था। अनेक पीढ़ियों से उनके कुल के लोग नगरसेठ होते आए थे। औरंगज़ेब के समय में उन्हें सिक्के चलाने का अधिकार भी था। इसी कारण जब-जब शहर पर विपत्ति आती थी, तो यह नगरसेठ उसे बचाने का प्रयत्न करते थे। खुशालचन्द्र ने भी ऐसा ही किया। उस सामूहिक हत्याकाण्ड के समय वह अपने प्राणों की चिन्ता न करके सेनापति हामिद खाँ के पास पहुँचे और विनम्र शब्दों में कहा, ''यह अराजकता रोककर नगर में व्यवस्था स्थापित



कीजिए !''

हामिद खाँ ने रक्तपूर्ण नेत्रों से उस नगरसेठ की ओर देखा। सिर पर अहमदाबादी ज़री की पगड़ी, कानों में स्वर्ण-कुण्डल और अत्यन्त सौम्य आकृति, वह रक्त-पिपासु कई क्षण तक उन्हें देखता रहा। फिर बोला, ''मैं धन चाहता हूँ। उसके बिना यह हत्याकाण्ड बन्द नहीं होगा।''

नगरसेठ का हृदय द्रवित हो उठा था। करुण स्वर में उन्होंने कहा, ''कितना धन चाहते हो, मैं दूँगा। सेना को वापस लौट जाने का आदेश दीजिए। व्यर्थ ही निर्दोष नागरिकों की हत्या और सम्पत्ति का यह महानाश मैं नहीं देख सकता।''

हामिद खाँ बोला, ''जितना माँगूँगा, उतना धन दोगे ?''

नगरसेठ ने उत्तर दिया, ''दूँगा। आप सेना को लूटमार करने से रोकिए। मैं अभी वापस आता हूँ।''

हामिद खाँ ने एक बार फिर नगरसेठ की ओर देखा। नगरसेठ जानते थे कि सारा धन मुझे ही देना होगा। लेकिन इस समय

अपनी सम्पत्ति बचाने का विचार उन्हें छू भी नहीं गया था। इसलिए उनके मुख पर दृढ़ता थी। इस दृढ़ता ने अत्याचारी के हृदय को छुआ। उसने तुरन्त रणभेरी बजाने की आज्ञा दी। लूट-मार करने वाली सेना अपने-अपने शिविरों की ओर लौट पड़ी। जनता ने राहत की साँस ली।

थोड़ी देर बाद वह क्या देखते हैं कि चार बैलों के सुन्दर रथ पर रुपयों से भरी असंख्य थैलियाँ लिए हुए नगरसेठ हामिद खाँ की ओर जा रहे हैं। दूसरे ही क्षण सेनापति के सामने रुपयों का ढेर लग गया। सेनापति की आँखें चमक उठीं। मुक्त कंठ से उसने कहा, "नगरसेठ, तुम्हारा नगर अब सुरक्षित है।"

नगर सुरक्षित था। लेकिन नगरसेठ अपना सब-कुछ लुटा बैठे थे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके पूर्वजों ने जो धन इकट्ठा किया था, वह अब विदेशियों के पास पहुँच गया था। नगरसेठ के सामने प्रश्न था–अब व्यापार कैसे चलेगा ? कल बाजार में हुंडियाँ कैसे सकारी जाएँगी।

लेकिन यह सब होते हुए भी उनके मुख पर चिन्ता की एक भी रेखा दिखायी नहीं देती थी। वह एक अनिर्वचनीय आनन्द से दीप्त हो रहा था। धन गया तो क्या हुआ, शहर तो बच गया। जनता की रक्षा तो हो गई।

नगरसेठ वापस घर लौटे। दूसरे ही क्षण चारों ओर यह खबर फैल गई–कि अपना सर्वस्व लुटाकर नगरसेठ खुशालचन्द्र ने हमें और हमारे शहर को बचाया है। जो काम सेना नहीं कर सकती थी, वही काम अकेले एक नगरसेठ ने किया है। बस, नगर के सभी प्रमुख व्यापारी इकट्ठे हुए और उन्होंने सर्वसम्मति से यह निर्णय किया कि अहमदाबाद के बाज़ार में जितना माल काँटे पर तोला जाय, उसका पच्चीस प्रतिशत भाग सेठ को मिले।

ऐसा ही एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा गया। उस प्रतिज्ञा-पत्र पर तारीख पड़ी है हिजरी सम्वत् 1137, तारीख 10 माह शाबान। इसके अनुसार नगरसेठ को बराबर पैसा मिलता रहा। अहमदाबाद पर शासन करने वाली गायकवाड़ और पेशवा-सरकार ने इस प्रतिज्ञा-पत्र का सम्मान किया। यही नहीं, उन्हें छत्र और आसन भी प्रदान किया। कम्पनी-सरकार ने भी इस अधिकार को स्वीकार किया था लेकिन एक निश्चित राशि नियत कर दी। यह राशि थी 2133 रुपया वार्षिक। कुछ समय बाद एक कलेक्टर ने यह राशि देना बन्द कर दिया। पैसे की दृष्टि से यह रकम बड़ी नहीं थी। किन्तु मान की दृष्टि से उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसीलिए नगरसेठ के वंशज सेट प्रेमाभाई विलायत तक लड़े और इस अधिकार को फिर प्राप्त किया। आज भी इस महान नगरसेठ की स्मृति में यह रकम भारत सरकार की ओर से प्रति वर्ष उनके वंशजों को दी जाती है। आज वह परिवार बहुत बड़ा है और राशि बहुत ही छोटी है; लेकिन इसके साथ नगरसेठ खुशालचन्द्र के साहस की जो कहानी जुड़ी हुई है, उसका मूल्य असीम है। वही सत्य है और सब-कुछ मिथ्या है !

बाल-साहित्य

देश-विदेश की सचित्र लोककथाएं

पड़ोसी देशों की लोककथाएं
पंजाब की लोककथाएं
हरियाणा की लोककथाएं (पुरस्कृत)
हिमाचल की लोककथाएं
राजस्थान की लोककथाएं
मध्यप्रदेश की लोककथाएं
उत्तर प्रदेश की लोककथाएं
जापान की लोककथाएं
अफ्रीका की लोककथाएं
गुजरात की लोककथाएं
बिहार की लोककथाएं
असम की लोककथाएं
बंगाल की लोककथाएं (पुरस्कृत)
केरल की लोककथाएं

प्रेमचन्द की सरल, सचित्र बाल कहानियां

बूढ़ी काकी
बड़े घर की बेटी
सुजान भगत
परीक्षा
शतरंज के खिलाड़ी
दो बैलों की कथा
मां की ममता
शिकारी राजकुमार
गुल्ली-डण्डा
रानी सारंधा
नमक का दरोगा
रामलीला
पंच परमेश्वर
मन्दिर
ईद का त्यौहार
सब से बड़ा तीर्थ
कुत्ते की कहानी
मेरी कहानी
रामकथा
जंगल की कहानियां

रवीन्द्रनाथ टैगोर की सरल बाल-कहानियां

भोला राजा
काबुलीवाला
पारसमणि
मास्टरजी
तोते की कहानी
राजा का न्याय

राजपाल

ISBN 81-7028-472-4
9 788170 284727